

---

## इकाई 2 भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं की प्रमुख विचारधाराएँ\*

---

### इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 भारत में समाजशास्त्रीय परंपराओं की विचारधाराओं के सामाजिक एवं बौद्धिक पूर्ववृत्त
- 2.3 बम्बई विचारधारा
- 2.4 लखनऊ विचारधारा
- 2.5 बम्बई विचारधारा और लखनऊ विचारधारा की तुलना
- 2.6 सारांश
- 2.7 संदर्भ
- 2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### 2.0 उद्देश्य

---

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थी को इस बात से अवगत कराना है कि –

- भारत में दो प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारधाराओं का उद्गमन कैसे और क्यों हुआ;
- क्या समेकित चिंतन के अन्य पहलू भी थे, जो कि प्रमुख विचारधाराओं में विकसित नहीं हो पाए;
- प्रत्येक विचारधारा के सैद्धांतिक आधार, मुख्य अवधारणाएँ/उद्गम केंद्र, एवं प्रमुख योगदान क्या थे; तथा
- भारत में समाजशास्त्रीय परंपरा को प्रस्तुत करने में उक्त दो विचारधाराएँ कैसे और किस विधि से परस्पर तुलना करते हुए एक दूसरे में अंतर स्पष्ट करती हैं।

---

### 2.1 प्रस्तावना

---

इस इकाई में हम आपको समाजशास्त्रीय परंपराओं की प्रमुख 'विचारधाराओं' से अवगत कराएँगे। सर्वप्रथम हम संक्षेप में यह जानेंगे कि 'विचारधारा' और 'परंपरा' शब्दों का अर्थ क्या है। कैम्ब्रिज ऑनलाइन डिक्शनरी के अनुसार 'विचारधारा' का अर्थ है – अवधारणाओं अथवा मतों का वह संग्रह जो किसी विषय पर किसी जनसमूह द्वारा साझा किया जाता हो।

लोग किसी वस्तु विशेष के विषय में अपने दृष्टिकोण के रूप में किसी 'विचारधारा' को लेकर परस्पर जुड़ते हैं, और हमारे इस प्रकरण में वह वस्तु है – भारत में समाज। दूसरी ओर, 'परंपरा' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'ट्रेडिशन' (tradition) शब्द का हिंदी रूप है, जो कि स्वयं लैटिन भाषा के शब्द 'त्रादिशियो' (traditio) से बना एक संज्ञा शब्द है; इस शब्द के

---

\* डॉ. सुमित सौरभ श्रीवास्तव, सेंटर फॉर ग्लोबलाइजेशन एंड डिवलपमेंट स्टडीज़, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज कृत।

क्रिया रूप 'त्रादेरेरे' (*traderere*) अथवा 'त्रादेरे' (*tradere*) का अर्थ होता है – संचारित करना, सौंपना, सुरक्षित रखना।

परंपरा के गुणधर्मों का विश्लेषण करते हुए अमेरिकी समाजशास्त्री एडवर्ड शिल्स दो बातों का उल्लेख करते हैं – प्रथम, अतीत की विद्यमानता, और दूसरी, अतीत के प्रति अनुक्रियता के सुदृढीकरण स्वरूप वर्तमान (1971: 125–129)। तदनुसार इस इकाई में भारत में समाजशास्त्रीय परंपराओं का अर्थ होगा – वे बौद्धिक परंपराएँ जो देश के भीतर समाज के संबंध में विद्वानों के अग्रणी योगदान को दर्शाती हों।

पाठांश 2.2 भारत में समाजशास्त्रीय परंपराओं के सामाजिक एवं बौद्धिक पूर्ववृत्त पर विचार करता है; पाठांश 2.3 बम्बई विचारधारा की प्राथमिकताओं पर चर्चा करता है; पाठांश 2.4 लखनऊ विचारधारा की प्राथमिकताओं पर चर्चा करता है; पाठांश 2.5 बम्बई विचारधारा और लखनऊ विचारधारा की तुलना प्रस्तुत करता है; तथा अंत में पाठांश 2.6 इस इकाई का सारांश प्रस्तुत करता है।

---

## 2.2 भारत में समाजशास्त्रीय परंपराओं की विचारधाराओं के सामाजिक एवं बौद्धिक पूर्ववृत्त

---

भारत में मुख्यतः ब्रिटिश विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र और सामाजिक एवं भौतिक मानवविज्ञान को एक विद्याशाखा एवं व्यवसाय के रूप में उस समय पहचाना गया जब देश ब्रिटेन का एक उपनिवेश ही था। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि ये दोनों विद्याशाखाएँ भारत के 'औपनिवेशिक समागम' से ही अंकुरित हुई थीं। यूरोपीय परंपराओं के विपरीत ये दोनों ही विद्याशाखाएँ औपनिवेशिक भारत के साथ-साथ उत्तर-औपनिवेशिक भारत में भी एक दूसरे के साथ गुँथी रही हैं।

निश्चित रूप से यह तर्क दिया जा सकता है कि समाजशास्त्र और विशेष रूप से मानवविज्ञान की शुरुआत मुख्यतः ब्रिटिश विद्वानों द्वारा किए गए भारतविद्या (*Indology*) के अध्ययन से जुड़ी रही। इन विद्वानों में प्रमुख रहे – प्रसिद्ध भारतविद् सर विलियम जोन्स (1746–94), जिन्होंने वर्ष 1784 में 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ इंडिया' की स्थापना की।

औपनिवेशिक सत्ता ने भारत को 'परंपरागत' समाज के रूप में समझा और उसी रूप में उसका अध्ययन किया। तदंतर, राष्ट्रवादी आंदोलन के उद्गमन के साथ ही उक्त दोनों विद्याशाखाओं में अध्ययनरत इन विद्वानों ने 'उपनिवेश और औपनिवेशिक सत्ता', 'परंपरा और आधुनिकता', 'प्रगति और पिछड़ापन' आदि के द्विगुणों को ध्यान में रखते हुए ही समाज संबंधी अपने ज्ञान को रेखांकित किया।

लेखक श्रीनिवास एवं पाणिनी ने भारत में इन विद्याशाखाओं के विकास को तीन चरणों में प्रस्तुत किया है – प्रथम, वर्ष 1773–1900 के बीच आधारशिला रखा जाना; द्वितीय, वर्ष 1901–1950 के बीच व्यवसायीकरण की अवधि; तृतीय, स्वातंत्र्योत्तर काल, जिसमें यह विभिन्न प्रकार के समर्थन तंत्रों के माध्यम से पूरे भारत में फैल गया (1973: 180)।

दत्तात्रेय धनागरे का विचार है कि औपनिवेशिक भारत के विषय में ब्रिटिश विद्वानों के शुरुआती लेखन ने औपनिवेशिक शासकों को असंख्य 'जीवनशैलियों' का अनुसरण कर रही अनेक जातियों एवं समुदायों और उनके द्वारा आवासित इस विशाल भूभाग को 'समझने' में 'मदद' की। तथापि, इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में किसी स्वदेशी विचारधारा का अभाव था। यह कहा जा सकता है कि विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षाप्राप्त और निखरे स्वदेशी विद्वानों ने समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की सबसे शुरुआती विद्याशाखाओं को स्थापित करने (प्रथम बम्बई में, फिर लखनऊ में और फिर देश के अन्य भागों में) में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, हालाँकि ऐसा ब्रिटिश विद्वानों की 'प्रेरणा' से ही हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उक्त दोनों विद्याशाखाओं के संस्थानीकरण एवं व्यवसायीकरण की प्रक्रिया स्वतः ही और राज्य समर्थन के साथ तेजी से आगे बढ़ी। बम्बई विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्वविद्यालय दोनों में समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान की शिक्षा प्रदान करने वाले विभाग शीघ्र ही ऐसी क्षमता वाले अध्यापन-अधिगम प्रक्रिया के केंद्र कहलाने लगे कि उनको 'विचार पद्धति' या 'विचारधारा' (School) कहा जाने लगा।

हमें यहाँ 'विचारधारा' शब्द को बड़ी सावधानीपूर्वक प्रयोग किए जाने की आवश्यकता होगी क्योंकि अपेक्षाकृत कड़े अर्थ में न तो बम्बई विचारधारा को और न ही लखनऊ विचारधारा को उस रूप में देखा जा सकता है जैसे कि शिकागो विचारधारा अथवा फ्रैंकफर्ट विचारधारा को समझा जाता है, कारण वे अपने दृष्टिकोण में भिन्न थीं। आइए, इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से समझें।

यदि हम ए.आर. देसाई को स्थानिक रूप से देखें तो वह बम्बई विचारधारा से संबंध रखते हैं और उनके समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण के रूप में सर्वाधिक देखा जाता है। तदनुसार वह बम्बई विचारधारा को मानने वाले हैं और अपने लेखन में मार्क्सवादी विचारधारा अपनाते हैं। दूसरी ओर, जी.एस. घुर्ये बम्बई विचारधारा से संबंध तो रखते हैं परंतु उनका लेखन अपनी प्रकृति में भारतविद्या विषयक होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देसाई एवं/अथवा घुर्ये (इस इकाई में चर्चा किए गए अन्य समाजशास्त्रियों की ही भाँति) का 'अध्ययन' उनकी 'स्थानिक अवस्थिति' के साथ-साथ उनके सैद्धांतिक स्वभाव के संदर्भ में भी किया जा सकता है।

इसी प्रकार इरावती कर्वे ने भारत में परिवार और नातेदारी के अध्ययन का बीड़ा उठाया, हालाँकि उनका संबंध न तो बम्बई विचारधारा से है और न ही लखनऊ विचारधारा से। इसी भाँति, यदि हम लखनऊ विचारधारा के अग्रदूतों द्वारा अपनाए गए विश्लेषणात्मक एवं शैक्षणिक उपकरणों को देखें तो 'विचारधारा' पद अपनी आलोचना का कारण ही बनेगा।

राधाकमल मुखर्जी और डी.पी. मुखर्जी दोनों का संबंध लखनऊ विचारधारा से रहा, और उन्हें समकालीन माना जा सकता है। तथापि राधाकमल मुखर्जी एक ऐसे प्रशिक्षित अर्थशास्त्री थे जिन्होंने सामाजिक पारिस्थितिकी संबंधी परीक्षण किए थे और फिर भारत में मूल्य व्यवस्था विषयक अपने अध्ययन के माध्यम से समाजशास्त्र में अपनी पैठ बनाई थी। दूसरी ओर, डी.पी. मुखर्जी एक इतिहासकार थे, जिन्होंने भारतीय समाज को समझने के लिए प्रयोज्य मार्क्सवाद के सिद्धांतों के माध्यम से अर्थशास्त्र में कदम रखा था। तदनुसार भारतीय संदर्भ में 'विचारधारा' शब्द के सम्मुख दो रुकावटें आती हैं – प्रथम, किसी विचारधारा विशेष में स्थापित विद्वानों के बीच मतभेद; और दूसरी, ऐसे अन्य समाजशास्त्रियों एवं मानवविज्ञानियों का सार्थक योगदान जो किसी भी विचारधारा से संबद्ध न हों।

बम्बई और लखनऊ विचारधाराओं के साथ-साथ विद्याशाखा एवं व्यवसाय के रूप में समाजशास्त्र के कुछ अन्य महत्वपूर्ण स्थल कलकत्ता, पटना, राँची, मैसूर, पूना और बड़ौदा स्थित उनके अपने-अपने विश्वविद्यालय थे। इनमें कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थित समाजशास्त्र विभाग विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार वर्ष 1959 में एम.एन. श्रीनिवास द्वारा संस्थापित दिल्ली विश्वविद्यालय स्थित समाजशास्त्र विभाग शिक्षा का समान रूप से विशाल केंद्र था। संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण के संदर्भ में भारतीय समाज में हुए परिवर्तनों संबंधी उनकी व्याख्या काफी महत्वपूर्ण है।

यहाँ समेकित चिंतन के ऐसे अन्य पहलुओं पर भी गौर किया जा सकता है जो समाजशास्त्र में चिंतन की प्रमुख विचारधाराओं में विकसित नहीं हो सके। इस प्रसंग में हम कुछ प्रमुख नाम स्वरूप पैट्रिक गेडेस (1854-1932), इरावती कर्वे (1905-1970) और जॉन

विंसेंट फ़ैरेरा (1922–2110) के जीवन एवं योगदान पर विचार कर सकते हैं। इनमें पैट्रिक गेडेस वर्ष 1919 से 1924 तक बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र एवं नागरिक शास्त्र विभाग के संस्थापक-प्रमुख रहे। स्वयं जीवविज्ञान में प्रशिक्षित होने के बावजूद उन्होंने सामाजिक भूगोल और नगर आयोजना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रूप से योगदान दिया। उदाहरण के लिए, उन्हें देश के प्रमुख शहरों – बड़ौदा और इंदौर – में नगर आयोजना कार्य में शामिल किया गया था। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं – *वैप्टर्स इन मॉडर्न बॉटनी* (1893); *सिटी डवलपमेंट : ए स्टडी ऑफ पावर्स, गार्डन्स, एंड कल्चर इंस्टीट्यूट्स* (1904) तथा *सिटीज इन इवोल्यूशन : एन इंट्रोडक्शन टू द टाउन प्लानिंग मूवमेंट एंड टू द स्टडी ऑफ सिविल्स* (1915)।

भारत की प्रथम महिला मानवविज्ञानी और देश की प्रथम नारीवादी समाजशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित इरावती कर्वे वर्ष 1939 में पूना स्थित डेक्कन पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलेज एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट के नव-स्थापित समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान विभाग की प्रमुख बनीं। उनकी कृतियों को मानवविज्ञान की अंतर-विद्याशाखा शाखाओं के अंतर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है, यथा जातीय-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य – भारतीय समाज को समझना; पुरा-नृविज्ञान – भारत में लोगों के भौतिक अभिलक्षणों का अन्वेषण; पुरातत्व एवं भारतविद्या तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मानवविज्ञान – जाति को समझना और देश भर में नातेदारी प्राधार का अन्वेषण। संस्कृत साहित्य संबंधी उनके प्रत्यक्ष ज्ञान ने हिंदू भारतीय समाज को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कर्वे कृत *किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया* (1953) को भारत में मानवविज्ञानियों के बीच एक अग्रणी एवं अनन्य अध्ययन के रूप में जाना जाता है। कर्वे ने भारत के उत्तरी, मध्य, दक्षिणी एवं पूर्वी क्षेत्रों में नातेदारी संरचनाओं का अध्ययन किया (अल्फ्रेड क्रोबर कृत *कल्चर-एरिया हाइपोथीसिस* से उल्लेखनीय रूप से प्रभावित होकर) और उत्तर व दक्षिण भारतीय नातेदारी के बीच अंतर पर प्रकाश डाला।

जॉन विंसेंट फ़ैरेरा (1922–2010) ने 'एकात्म मानवविज्ञान' संबंधी अपनी अवधारणा को आगे बढ़ाया और *टोटेमिज्म इन इंडिया* (1965) नामक अपनी पुस्तक में मानवविज्ञान को दार्शनिक नृविज्ञान के रूप में परिभाषित किया। एकात्म मानवविज्ञान चार सिद्धांतों पर होता है, यथा – परिमितता, पूरकता, निर्भरता एवं आनुपातिकता। मानवविज्ञान में वियना विचारधारा की परंपरा से प्रभावित होकर फ़ैरेरा ने 'सामाजिक विज्ञान' के स्थान पर 'मानविकीय विज्ञान' पदबंध प्रयोग किए जाने की बात कही।

## बोध प्रश्न 1

1. निम्नलिखित पुस्तकों के लेखकों के नाम बताएँ –

(i) *किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया*

(ii) *सिटी डवलपमेंट : ए स्टडी ऑफ पावर्स, गार्डन्स, एंड कल्चर इंस्टीट्यूट्स*

(iii) *टोटेमिज्म इन इंडिया*

.....  
.....  
.....  
.....

2. भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं की दो प्रमुख विचारधाराओं के नाम बताएँ।

## 2.3 बम्बई विचारधारा

बम्बई (आज का मुम्बई) स्थित बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना वर्ष 1919 में प्रोफेसर सर पैट्रिक गेडेस (1854–1932) को प्रथम विभागाध्यक्ष बनाने के साथ ही हुई। इनके अलावा जी.एस. घुर्ये (1893–1983), ए.आर. देसाई (1915–1994), कन्हैयालाल मोतीलाल कपाड़िया (1908–1967), जे.वी. फ़ैरेरा (1922–2010) तथा डी. नारायण (*हिंदू करैक्टर*, 1957) ने अनेक अकादमिक परंपराओं की नींव डाली, जो कि समय के साथ देश भर के विभिन्न विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में फैल गईं।

बम्बई विचारधारा के दिशानिर्देश भारतविद्या (घुर्ये), एकात्म नृविज्ञान (फ़ैरेरा), मार्क्सवादी (देसाई) एवं शहरी समाजशास्त्र/पारिस्थितिकी (गेडेस एवं घुर्ये द्वारा साझा) तथा कपाड़िया द्वारा प्रस्तुत हिंदू नातेदारी से काफी भिन्न हैं। घुर्ये का एकमात्र योगदान देश में इस विद्याशाखा के संस्थानीकरण एवं व्यवसायीकरण में उनकी (पहले स्वयं की और फिर उनके छात्रों की) अग्रणी भूमिका है। बम्बई विचारधारा के साथ एक अन्य उल्लेखनीय नाम के.एम. कपाड़िया का जुड़ा है, जिन्होंने भारतविद्या विषयक स्रोतों पर आधारित अपनी पुस्तक *हिंदू किनशिप : एन इंपोर्टेंट चैप्टर इन हिंदी सोशल हिस्ट्री* (1947) में परिवार के संरचनात्मक पहलुओं पर जोर दिया।

भारतविद्या (Indology) शास्त्रीय पवित्र 'ग्रंथों' के माध्यम से किसी भी समाज के वैज्ञानिक अध्ययन को कहा जाता है। यद्यपि भारतविद्या विषयक परिप्रेक्ष्य विलियम जोन्स, हेनरी मेन, मैक्स मुलर व अन्य विद्वानों जैसे प्राच्यविदों के योगदान से जुड़ा हुआ है, यह एडवर्ड सर्ईद द्वारा चर्चा किए गए प्राच्यवाद से नितांत भिन्न है। डी.एन. धनागरे के अनुसार भारतविद्या विषयक दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि "ऐतिहासिक रूप से भारतीय समाज और संस्कृति अद्वितीय हैं और भारतीय सामाजिक वास्तविकताओं की इस 'प्रासंगिक' विशिष्टता को 'ग्रंथों' के माध्यम से ही समझा जा सकता है" (2008: 36)।

गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893–1983) बम्बई विचारधारा के एक प्रमुख विद्वान थे, जिन्होंने अपनी शिक्षाओं एवं अनुसंधान में भारतविद्या के परिप्रेक्ष्य को ही अपनाया। उन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन भारतविद्या और मानवविज्ञान के दृष्टिकोणों से अध्ययन किया और संस्कृत साहित्य के अपने गहन ज्ञान के साथ ही समाजशास्त्रीय अध्ययन में संस्कृत साहित्य का उपयोग किया। घुर्ये का लेखन कार्य उस युग में हो रहा था जब राष्ट्रवादी प्रवचनों को समेकित किया जा रहा था और परंपरा एवं आधुनिकता पर भी बहस चल रही थी। तदनुसार उन्होंने परस्पर विलय होते प्राच्यवाद और राष्ट्रवादी प्रवचन के माध्यम से भारतीय सभ्यता की एकता एवं पुरातनता पर विचार करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं – *कास्ट एंड रेस इन इंडिया* (1932, 1969) हैं; *कल्चर एंड सोसाइटी* (1947); *फ़ैमिली एंड किन इन इंडो-यूरोपियन कल्चर* (1955, 1961); *एनाटॉमी ऑफ ए रूरल एंड अर्बन कम्युनिटी* (1962); *शेड्यूल्ड ट्राइब्स* (पहली बार *द एबोजिनिस् सो-कॉल्ड एंड देयर फ्यूचर* के नाम से प्रकाशित) (1943, 1959, 1963); तथा *द बर्निंग कॉल्लेज ऑफ नॉर्थ-ईस्ट इंडिया* (1980)। उनकी पुस्तकों में भारतविद्या संबंधी उनकी पृष्ठभूमि और संस्कृत में उनका कठोर प्रशिक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

अपनी पुस्तक *कास्ट एंड रेस इन इंडिया* (1932, 1969) में घुर्ये प्राचीन ग्रंथों की शाब्दिक व्याख्या के माध्यम से जाति (उद्भव, इतिहास एवं प्रकार्यात्मक महत्व) का अध्ययन कर उसके संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक संपृक्तार्थ पर पहुँचते हैं। उन्होंने जाति व्यवस्था के छह संरचनात्मक अभिलक्षणों पर प्रकाश डाला है, यथा – समाज का खंड विभाजन, पदानुक्रम, मलिनता एवं शुद्धता, नागरिक एवं धार्मिक अक्षमताएँ और विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकार, व्यवसाय के विकल्पों का अभाव, तथा विवाह पर प्रतिबंध। उन्होंने सगोत्र विवाह को जाति व्यवस्था के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलक्षण के रूप में देखा। प्रायः जाति को जातीय सगोत्र विवाह और वंश (गोत्र) बहिर्विवाह के माध्यम से नातेदारी से भी जोड़कर देखा जाता है।

भारत में जनजातियों पर अपने लेखन में घुर्ये ने हिंदू समाज में उनके अपूर्ण एकीकरण के कारण ही उनके लिए 'पिछड़ी जाति के हिंदू' होने का तर्क दिया। इसके लिए उन्होंने दक्षिण-मध्य भारत में रहने वाले संथालों, भीलों, गोंडों आदि का उदाहरण दिया। दूसरे, उन्होंने उत्तर-पूर्व में 'उपद्रवों' पर चिंता व्यक्त की और इसको राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में 'मतभेदों' के संदर्भ में स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस प्रकार उन्होंने न केवल यह तर्क दिया कि जनजातियाँ जाति से भिन्न नहीं हैं, बल्कि इस बात पर भी जोर दिया कि जनजातियों को राजनीतिक-प्रशासनिक अर्थ में भारतीय राष्ट्र-राज्य में आत्मसात किया जाना चाहिए।

भारत में समाज का अध्ययन करने के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण मार्क्सवाद के सिद्धांतों पर आधारित है। मार्क्सवाद समाज को उत्पादन के तरीके में परिलक्षित अपने भौतिक आधार के रूप में देखता है। यह समाज आधार के रूप में मूल संरचना और अपने आवरण के रूप में अधिरचना से बना होता है। मूल संरचना उत्पादन की विधि होती है और अधिरचना में राज्य व्यवस्था, धार्मिक प्रथाएँ व सामाजिक संबंध जैसी सामाजिक संस्थाएँ आती हैं। वह वर्ग जो मूल संरचना का स्वामित्व प्राप्त कर उसे नियंत्रित करता है, वही अपनी प्रमुख विचारधारा के माध्यम से अधिरचना को निर्धारित करता है।

डी.पी. मुखर्जी, डी.डी. कोसांबी, ए.आर. देसाई, पी.सी. जोशी व अन्य जैसे विद्वानों भारतीय समाज का अध्ययन द्वंदात्मक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाकर मार्क्सवादी प्ररिप्रेक्ष्य में किया है। इनमें ए.आर. देसाई (1915-1994) बम्बई विचारधारा के एक प्रमुख विद्वान थे, जिन्होंने अपने अभिविन्यास को मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुरूप रखा था। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं – *द सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1948), *रीसेंट ट्रेंड्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1960), *स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया* (1975), *पैजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* (1979), *इंडियाज पाथ ऑफ डेवलपमेंट* (1984) तथा *रूलर सोशियोलॉजी इन इंडिया* पर एक चयनिका (1994)।

देसाई का मत था कि भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए मार्क्सवादी पद्धति को लागू करके भारतीय राज्य ने 'विकास का पूँजीवादी मार्ग चुना' है। उनके अनुसार विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति में दिए गए समाज के उत्पादन के साधनों की प्रकृति, श्रम के तकनीकी-आर्थिक विभाजन और उत्पादन के सामाजिक संबंधों का वर्णन किया जाना शामिल होता है।

यहाँ देसाई के दृष्टिकोण का पता लगाने के लिए उनकी कृतियों का एक अनुमानी त्रिमुखी वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है। उनके लेखन की प्रथम शृंखला को 'अवस्थांतर में ग्रामीण समाज' पर लिखे जाने के रूप में देखा जा सकता है ताकि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान व उसके बाद के ग्रामीण भारत में कृषिक प्राधार एवं/या वर्ग गठन को समझा जा सके। ग्रामीण भारत में किसानों के संगठित संघर्ष का विवरण *पैजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* (1979) और *एग्रोरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेंस* (1986) में देखने को मिलता है।

उनके लेखन की दूसरी शृंखला के रूप में *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1948) और *रीसेंट ट्रेंड्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (1960) ने भारतीय राज्य के उद्भव एवं तदनंतर गठन को केंद्र में रखा।

देश में ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ कृषिक अर्थव्यवस्था और कुटीर उद्योग के प्राधार को भीतर तक बदल डाला गया था। चूँकि स्वातंत्र्योत्तर भारत ने आधुनिकीकरण का मार्ग चुना था, वह पूँजीवादी राज्य का प्रतिरूप बन गया। देसाई की कृतियाँ *वॉयलेशन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स इन इंडिया* (1986) और *रिप्रेशन एंड रेजिस्टेंस इन इंडिया* (1990) भारतीय 'बुर्जुआ वर्ग' के राज्य के 'यथार्थ' चरित्र को प्रस्तुत करती हैं, जो कि उसके पूँजीवादी एजेंडा (अर्थात् कार्यसूची) का विरोध करने वालों का हिंसक रूप से दमन करता है। धनाढ्य वर्ग के हितों की रक्षा करने के लिए राज्य के विरुद्ध निर्धन एवं आधारहीन वर्ग के संघर्षों को कुचल दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देसाई का प्रमुख सरोकार राज्य के उद्भव और उसके आधार के साथ-साथ कल्याणकारी एवं लोकतांत्रिक राज्य से दमनकारी एवं पूँजीवादी राज्य के बदलते उसके स्वरूप पर भी चर्चा करने से रहा।

## 2.4 लखनऊ विचारधारा

राधाकमल मुखर्जी, डी.पी. मुखर्जी और अवध किशोर सरन को लखनऊ विचारधारा की 'तिकड़ी' के रूप में देखा जाता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग के संस्थापक-प्रमुख के रूप में राधाकमल मुखर्जी (1889-1968) वर्ष 1952 तक यहाँ कार्यरत रहे। अर्थशास्त्र, जनसांख्यिकी, समाजशास्त्र एवं पारिस्थितिकी पर उनके लेखन में हम उस काल में चल रहे उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन की छाप देख सकते हैं। विनय कुमार सरकार, ब्रजेंद्रनाथ सील और पैट्रिक गेडेस के लेखन ने उन्हें अपने प्रारंभिक विचार गढ़े जाते समय प्रभावित किया। उन्होंने अकादमिक रूप से अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र को एक साथ मिला दिया और तदनुसार ज्ञान की विविधता एवं बहुलता हेतु तर्क दिया (उनके द्वारा भारतीय अर्थशास्त्र का उप-विद्याशाखा के रूप में नियमन)।

राधाकमल मुखर्जी ने दृढ़तापूर्वक तर्क दिया कि पश्चिमी देशों के आर्थिक सिद्धांतीकरण एवं प्रतिमान मॉडल भारत के लिए (ज्ञान एवं व्यावहारिकता दोनों ही स्तरों पर) उपयुक्त नहीं हैं। यह विकास के लिए 'यूरो-केंद्रित' अर्थात् 'यूरोप एवं यूरोपवासियों पर केंद्रित' दृष्टिकोण की वास्तविक आलोचना थी। ऐसा इसलिए है कि भारतीय अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि प्रधान है और अपनी अनुस्थिति में ग्रामीण है। विकास के पाश्चात्य आर्थिक प्रतिमान हमारे आर्थिक पिछड़ेपन और व्यापक गरीबी को दूर कर पाने के योग्य नहीं हैं, बल्कि वे विनाशकारी रूप से ग्रामीण अस्तव्यस्तता और कृषिक अवनति में परिणत होने वाले हैं। इस प्रकार के तर्क *द फाउंडेशन ऑफ इंडियन इकोनॉमिक्स* (1916) और *बॉर्डर-लैंड्स ऑफ इकोनॉमिक्स* (1925) में गुंजायमान देखे जा सकते हैं, जो कि उनकी अन्य रचनाओं के साथ ही प्रगति के नाम पर पश्चिमी आधुनिकता की आलोचना के रूप में अलग ही दिखाई दे जाते हैं। राधाकमल मुखर्जी ने कृषि और उद्योग के बीच पारस्परिकता पर आधारित परंपरागत जैविक गाँव के लिए तर्क दिया। उन्होंने अपनी कृतियों *द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज* (1949) और *द डाइनैमिक्स ऑफ मॉरल्स* (1951) के माध्यम से मूल्यों के सामाजिकी में व्यापक योगदान दिया, जिनमें उन्होंने मनुष्य के अंतर्भूत एवं सार्वभौमिक मूल्यों के रूप में न्याय, प्रेम, एकजुटता और अच्छाई पर ध्यान केंद्रित किया है।

प्रगति और विकास के लिए अपने 'वैकल्पिक' दृष्टिकोण के नियमन में मुखर्जी भारतीय इतिहास के साथ-साथ भारतीय मूल्य व्यवस्था के अनूठेपन को भी रेखांकित करते हैं।

भारत के गाँवों को यदि उचित प्रकार का राज्य समर्थन प्राप्त हो तो वे धीमे विकास से उबर सकते हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों का सांप्रदायिक/सामूहिक/सामुदायिक स्वामित्व पश्चिमी देशों में प्रचलित संपत्ति की 'निजी' प्रकृति के नितांत विरुद्ध खड़ा है। संपत्ति की 'निजी' प्रकृति अपने दृष्टिकोण में अपवर्जनात्मक होती है, जबकि परंपरागत सांस्कृतिक लोकाचार ऐसा नहीं करता है। उन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए स्वदेशी सांस्कृतिक अवधारणाओं पर जोर दिया और तदनुसार पाश्चात्य सामाजिक सिद्धांतों के 'एथनोसेंट्रिज्म' अर्थात् 'स्वजातीय उत्कृष्टता में विश्वास' का प्रतिकार करने का प्रयास किया।

लखनऊ विचारधारा की 'तिकड़ी' के कार्यकाल एवं सक्रियता के दौरान लखनऊ विश्वविद्यालय में एक अन्य प्रमुख विद्वान धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (1903-1960) की नियुक्ति हुई, जो कि वर्ष 1950 में विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान के नव-स्थापित विभाग के प्रमुख बने। भिन्न शोध रुचि रखने वाले किंतु समान महत्ता वाले मजूमदार एक प्रशिक्षण प्राप्त मानवविज्ञानी थे और मालिनोवस्की एवं शरत चंद्र रॉय (भारतीय नृवंशविज्ञान परंपरा के संस्थापक) दोनों से प्रभावित थे। वे वर्ष 1928 में इस विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग में मानवविज्ञान के व्याख्याता के रूप में नियुक्त हुए थे। उन्होंने कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में अपना शोध-प्रबंध हो जनजाति के लोगों में संस्कृति परिवर्तन पर लिखा था, जिससे उन्होंने वर्ष 1935 में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। यही शोध-प्रबंध बाद में *ए ट्राइब इन ट्रांजिशन* (1937) के रूप में प्रकाशित हुआ। वर्ष 1945 में उन्होंने 'एथनोग्राफिक एंड फोक-कल्चर सोसाइटी' की स्थापना की और फिर विद्वानों की पत्रिका *द ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट* का प्रकाशन प्रारंभ किया।

मजूमदार के कार्यक्षेत्र की विशिष्ट पहचान थी - मानवविज्ञान में बायोमेट्रिक्स प्रणाली, यथा मानवशास्त्रीय आँकड़ों के विश्लेषण में सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ हैं - *रेसिज एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया* (1944: वर्ष 1944 व 1973 के बीच अंग्रेजी में 62 संस्करण प्रकाशित), *द अफेयर्स ऑफ ए ट्राइब : ए स्टडी इन ट्राइबल डायनेमिक्स* (1950), *सोशल कॉन्ट्रॉल ऑफ ए इंडस्ट्रियल सिटी : सोशल सर्वे ऑफ कानपुर*, 1954-56 (1960: जिसे प्रायः किसी भारतीय मानवविज्ञानी द्वारा किए गए प्रथम शहरी अध्ययन माना जाता है), *रूरल प्रोफाइल* (1960: जिसे 'ग्राम अध्ययन' करने के लिए भारतीय मानवविज्ञानियों के बीच एक अग्रणी ग्रंथ माना जा सकता है), *हिमालयन पॉलिग्रेडी, स्ट्रक्चर, फंक्शनिंग एंड कल्चर चेंज : ए फील्ड स्टडी ऑफ जौनसार-बावर* (1963) व अन्य।

मजूमदार की रुचि के क्षेत्र थे - भौतिक नृविज्ञान, प्रागैतिहासिक पुरातत्व और सांस्कृतिक नृविज्ञान थे, जो कि वर्णनात्मक नृवंशविज्ञान पर ध्यान केंद्रित करते थे। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को संस्कृतियों के संपर्क के परिणामस्वरूप माना और तर्क दिया कि अन्य जब जनजातियाँ अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आएँगी तो उनका 'रचनात्मक अथवा उत्पादक अंगीकरण' होगा। उन्होंने विकास संबंधी समस्याओं के लिए समग्र दृष्टिकोण हेतु तर्क प्रस्तुत किया और प्रत्यक्ष एवं नियोजित परिवर्तन में समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान की भूमिका एवं योगदान पर जोर दिया। उन्होंने हो (बिहार) और खासा (उत्तर प्रदेश की जौनसारी), कोरवा और थारू (दोनों उत्तर प्रदेश), गोंड (बस्तर), तथा भील (गुजरात) जनजातियों का अध्ययन किया। जौनसार-बावर के निवासियों पर उनका अध्ययन, जो कि उनकी नातेदारी, राजनीतिक संगठन एवं औपचारिक नेतृत्व का विवरण करता है, नातेदारी अध्ययन में एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है।

मजूमदार ने उत्तर प्रदेश, बिहार और गुजरात की जनजातियों के बीच व्यापक मानवशास्त्रीय एवं सीरम परीक्षण भी किए। वह वर्ष 1941 की दशकीय जनगणना में भी



शामिल रहे थे और उन्होंने यूनाइटेड प्रोविसिज (अब उत्तर प्रदेश) के लिए एक मानवशास्त्रीय एवं सीरम परीक्षण सर्वेक्षण करवाया था। यह ध्यान देने की बात है कि मानवदेहमितिक और रक्त विश्लेषण के माध्यम से भौतिक नृविज्ञान में उनका अध्ययन जाति/जनजाति एवं प्रजाति शोध-प्रबंध के अनुरूप नहीं था। वह इस अवधारणा के विरुद्ध थे कि जाति के उद्भवन के लिए किसी भी प्रकार प्रजातीय अथवा जातिमूलक तत्व जिम्मेदार होते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा, मजूमदार ने विकास संबंधी समस्याओं के प्रति समग्र दृष्टिकोण के लिए तर्क दिया और निर्दिष्ट एवं नियोजित परिवर्तन में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान की भूमिका और योगदान पर ध्यान केंद्रित किया। यह बोध उन्हें योजना आयोग (भारत सरकार) की अनुसंधान कार्यक्रम समिति का सदस्य रहने के दौरान हुआ। छोटा नागपुर पठार (वर्तमान झारखंड) में रहने वाली हो जनजाति पर मजूमदार का अध्ययन गैर-जनजाति जाति हिंदू संस्कृति के संपर्क के परिणामस्वरूप 'अवस्थांतर में जनजातियों' के प्राधार के भीतर हो जनजाति पर एक महत्वपूर्ण चिंतन प्रस्तुत करता है। जनजातीय लोगों के अपना व्यवसाय छोड़ कोई नया व्यवसाय अपनाने पर उनके बीच एक मध्यम वर्ग उभरता है, जो कि अब तक उनके लिए अज्ञात था। मजूमदार ने उस समय जनजातियों के लिए 'रचनात्मक अथवा उत्पादक अंगीकरण' के लिए तर्क दिया जब वे अन्य संस्कृति/संस्कृतियों के संपर्क में आते हैं। दिलचस्प बात यह है कि हो विषयक उनका अध्ययन भी सांख्यिकीय कुशाग्रता से ही पहचाना जाता है।

अपनी मृत्यु (31 मई 1960) के समय मजूमदार उस विभाग के प्रमुख थे जिसकी उन्होंने स्थापना की थी। वह इस विश्वविद्यालय में कला संकाय के डीन भी रहे थे।

ए.एल. क्रोबर को अपना आदर्श मानते हुए मजूमदार ने अपनी रुचि के क्षेत्र भौतिक नृविज्ञान, पूर्व-ऐतिहासिक पुरातत्व और वर्णनात्मक नृवंशविज्ञान में विशेष रुझान के साथ सांस्कृतिक नृविज्ञान चुने। उन्होंने हो (बिहार) व खासा (उत्तर प्रदेश की जौनसारी), कोरवा व थारू (दोनों उत्तर प्रदेश), गोंड (बस्तर), और भील (गुजरात) जनजातियों का अध्ययन किया। जौनसार-बावर के निवासियों पर उनका शोध-कार्य उनकी नातेदारी, राजनीतिक संघटन एवं औपचारिक नेतृत्व के विवरण के साथ नातेदारी के अध्ययन में एक उत्कृष्ट कृति माना जाता है।

मजूमदार ने उत्तर प्रदेश, बिहार और गुजरात की जनजातियों के बीच व्यापक मानवशास्त्रीय और सीरोलॉजिकल सर्वेक्षण किए। वह 1941 की दशकीय जनगणना में भी शामिल थे और उन्होंने यूनाइटेड प्रोविसिज (अब उत्तर प्रदेश) के लिए एक मानवशास्त्रीय और सीरोलॉजिकल सर्वेक्षण किया। यह ध्यान देने की बात है कि नृविज्ञान और रक्त विश्लेषण के माध्यम से भौतिक नृविज्ञान में उनका शोध-कार्य जाति/जनजाति और प्रजाति संबंधी शोध-प्रबंध के अनुरूप नहीं था। वह इस अवधारणा के विरुद्ध थे कि जाति के उभरने के लिए एक प्रकार से प्रजातीय तत्व जिम्मेदार होते हैं।

मजूमदार ने विकास संबंधी समस्याओं के लिए समग्र दृष्टिकोण हेतु तर्क दिया और निर्देशित एवं नियोजित परिवर्तन में समाजशास्त्र एवं नृविज्ञान की भूमिका एवं योगदान पर जोर दिया। ऐसी व्याख्या उन्होंने योजना आयोग (भारत सरकार) की अनुसंधान कार्यक्रम समिति के सदस्य के रूप में काम करते हुए व्यापक रूप से प्रस्तुत की। छोटा नागपुर पठार (वर्तमान झारखंड) में रहने वाली हो जनजाति पर मजूमदार का शोध-कार्य गैर-जनजाति जाति हिंदू संस्कृति के संपर्क के परिणामस्वरूप 'अवस्थांतर में जनजातियों' के प्राधार के भीतर हो जनजाति पर एक महत्वपूर्ण शोध-कार्य है। जनजातीय लोगों के नए व्यवसायों को अपनाने और अपने पुराने छोड़ने से उनमें एक मध्य वर्ग उभरता है, जो कि अब तक उनके लिए अज्ञात था।

उन्होंने कहा कि जब जनजातियाँ अन्य संस्कृति/संस्कृतियों के संपर्क में आती हैं तो उनके लिए 'रचनात्मक अथवा सृजनात्मक अनुकूलन' हो ही जाता है। यह बात काफी रोचक है कि हो जनजाति पर उनके शोध-कार्य को भी सांख्यिकीय कुशाग्रता से दर्शाया गया है।

लखनऊ विचारधारा में भारतविद्या-उन्मुखी दृष्टिकोण वाले प्रमुख विद्वान के रूप में अवध किशोर सरन (1922-2003) का ही नाम आता है, जो लखनऊ विश्वविद्यालय में वर्ष 1946 में नियुक्त हुए और वर्ष 1966 में अपना त्यागपत्र देने तक वहीं कार्यरत रहे। तदोपरान्त वे जोधपुर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर (1973-78) रहे। उन्हें वर्ष 1987 में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट से मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। वर्ष 2003 में उनका निधन हो गया। उसके दृष्टिकोण को जो कि अध्यात्म विज्ञान था, आनंद के. कुमारस्वामी (1877-1947, श्रीलंकाई कला इतिहासकार एवं आलोचक) ने गहराई से प्रभावित किया था। सरन की प्रमुख कृतियों में शामिल हैं - *ऑन दि इंटलेक्चुअल वॉकेशन* (1996), *ट्रेडिशनल थॉट : टुवर्ड एन एग्जिओमेटिक अप्रोच : ए बुक ऑफ रिमाइंडर्स* (1996), *सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज एंड ट्रेडिशनल थॉट* (1998), *हिंदुइज्म इन कन्टेम्परेरी इंडिया* (2007) तथा *ऑन द थ्योरीज ऑफ सेक्युलरिज्म एंड मॉडर्नाइजेशन* (2007)।

आधुनिकता संबंधी अपनी अथक आलोचना में उन्होंने परंपरा के प्रति अपनी आजीवन प्रतिबद्धता दर्शायी। उनके अनुसार आधुनिकता परंपरा के पूर्ण विनाश में परिणत होती है और एक सजातीय 'यूरो-केंद्रित' अर्थात् 'यूरोप एवं यूरोपवासियों पर केंद्रित' दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। ठीक इसी वजह से उनके लिए परंपरा और आधुनिकता के बीच तालमेल न तो सुर मिलाने योग्य था और न ही वांछनीय। उनके लेखन में पुनरावर्ती विषय नैतिक व्यवस्था में संकट, दिन-प्रतिदिन के जीवन का 'अनाध्यात्मीकरण' और आधुनिक मूल्यों का अंधानुकरण ही रहे।

सरन के लेखन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि आधुनिकता की अवधारणा व उसके विकल्पों की संभावना की आलोचना करते हुए उन्होंने पाया कि लखनऊ विश्वविद्यालय में उनके विशिष्ट पूर्ववर्तियों का अभाव था। उन्होंने तर्क दिया कि यद्यपि राधाकमल मुखर्जी और डी.पी. मुखर्जी दोनों ही आधुनिकता के प्रश्न पर विचार करते रहे थे और गौरवशाली भारतीय परंपराओं की अद्वितीयता एवं उपयोगिता का स्मरण कराते रहते थे जोर दिया, वे आधुनिकता की शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर सके थे। सरन के अनुसार ऐसा करने वाला एक ही विद्वान व्यक्ति था, यथा आनंद के. कुमारस्वामी।

राधाकमल मुखर्जी के कार्यों की आलोचना करते हुए सरन तर्क देते हैं कि पदानुक्रमित शृंखला में व्यवस्थित समूहों की किसी चौहरी प्रारूपिकी के लिहाज से पूर्ववर्ती द्वारा किए गए चित्रण को पारलौकिक प्रेम एवं ज्ञान से दरकिनार नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार डी.पी. मुखर्जी के योगदान को उनके लेखन की बजाय उनके शैक्षणिक अभ्यास के आलोक में अधिक देखा जाना चाहिए, जहाँ उन्होंने अपने विद्यार्थियों को गुणदोष विवेचक एवं खुले विचारों वाला बनने का आह्वान किया।

यह समझना महत्वपूर्ण होगा कि सरन का लेखन किसी भी भाँति समझ पाने और ग्रहण कर लेने में सरल और सहज नहीं है। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने समाजशास्त्र की अवधारणा पर सवाल भारत में ही उठाया था क्योंकि देश औपनिवेशिक आधुनिकता का

उत्पाद था। पुनः चूँकि यहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच 'मध्य मार्ग' तलाश करने की प्रथा पर सवाल किया गया था, इस स्थिति से बचकर निकल पाना मुश्किल हो जाता है। मनुष्य क्या है और कौन है तथा वास्तविकता का बोध जैसे-तैसे ही किया जा सकता है संबंधी जटिल एवं आधारभूत विषयों को सुलझाने वाले तत्वमीमांसा संबंधी उनका दृष्टिकोण समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान के क्षेत्र में अपने समर्थक कम ही जुटा पाता है। फिर भी राधाकमल मुखर्जी एवं डी.पी. मुखर्जी दोनों से जुड़ी उनकी आलोचना अपना स्थान रखती ही है।

धुरजती प्रसाद मुखर्जी (जिन्हें लोकप्रिय रूप से 'डी.पी.' के रूप में जाना जाता है) (1894-1961) लखनऊ विचारधारा से जुड़े थे और भारत में समाजशास्त्र की संस्थापक विभूतियों में से एक थे। उन्होंने भारतीय समाज के अतीत और वर्तमान दोनों के विश्लेषण की विधि स्वरूप मार्क्सवाद का ही अनुसरण किया। वह स्वयं को 'मार्क्सवादी' के स्थान पर 'मार्क्सोलॉजिस्ट' कहलाना पसंद करते थे। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं - *पर्सनैलिटी एंड द सोशल साइंस* (1924), *मॉडर्न इंडियन कल्चर : ए सोशियोलॉजिकल स्टडी* (1942), *व्यूज एंड काउंटर-व्यूज* (1946), *डाइवर्सिटीज* (1958), *ऑन इंडियन हिस्ट्री : ए स्टडी इन मैथड* (1943) व अन्य।

डी.पी. मुखर्जी की पुस्तकों के विषय व्यक्तित्व, भारतीय संस्कृति एवं परंपराएँ, मध्य वर्ग आदि भिन्न-भिन्न हैं। शाश्वत द्वैतवाद के संदर्भ में परंपरा एवं आधुनिकता की गतिशीलता को उनके लेखन में एक पुनरावर्ती विषय के रूप में देखा जाता है। उनकी तर्क है कि परंपराएँ और आधुनिक मूल्य एवं परिपाटी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि दोनों के संश्लेषण से ही भारत को तदनुसार विकास करने में मदद मिलेगी। तथापि आधुनिकता को आँख मूँदकर नहीं अपनाया जाना चाहिए, अपितु उसे पारंपरिक मूल्यों के साथ शोधित और संश्लेषित किया जाना चाहिए।

भारतीय परंपराओं में एक प्रबल आस्तिक के रूप में डी.पी. मुखर्जी उन तरीकों का सुझाव देने के लिए साथ ही साथ प्रतिबद्ध भी थे जिनसे आधुनिकीकरण के मूल्यों (उदाहरणार्थ, आधुनिक शिक्षा) को बड़े पैमाने पर लोगों के कल्याण के लिए लाभकारी ढंग से उपयोग किया जा सकता हो। उन्होंने सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में आर्थिक कारकों पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक जगत को द्वंद्वत्मकता के संदर्भ में लिया और तर्क दिया कि परंपरा एवं आधुनिकता की जुड़वाँ शक्तियाँ लंबे समय से परस्पर जुड़ी हुई हैं। इसे परंपरा एवं आधुनिकता के बीच द्वंद्वत्मकता के संदर्भ में देखा जा सकता है, यथा अभिधारणा (परंपरा) - प्रतिस्थापना (आधुनिकता) - और अंत में - संश्लेषण में परिणत (परंपरागत एवं आधुनिक दोनों मूल्य एक दूसरे के साथ संरेखित होकर सांस्कृतिक सम्मिलन की ओर ले जाते हैं और तदनुसार आगे बढ़ने के लिए एक इंजन के रूप में कार्य करते हैं)।

परंपरा और आधुनिकता के बीच ऐसा समन्वय समाज की प्रगति के लिए आवश्यक था। यह और भी अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि केवल पश्चिमी मूल्यों की नकल करने से समाज का विकास और प्रगति नहीं हो सकती। इस दृष्टिकोण से देखे जाने पर डी.पी. मुखर्जी ने कहा कि भारतीय समाज के इतिहास-लेखन को परंपराओं की आलोचनात्मक दृष्टि से निर्मित किए जाने की आवश्यकता है। उनके अनुसार ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता का आगमन भारत के लिए संकट का कारण होने के साथ-साथ भारतीय मध्य वर्ग के लिए एकजुट हो जाने और उसके लाभों का दोहन करने का अवसर भी था। मार्क्स से शिक्षा ग्रहण कर डी.पी. मुखर्जी ने अपने द्वंद्वत्मक दृष्टिकोण में परंपरा एवं आधुनिकता के बीच एक सार्थक प्रगतिशील संश्लेषण के लिए तर्क दिया।

1. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –
  - (i) जी.एस. घुर्ये ने समाज के अध्ययन में ..... के दृष्टिकोण को अपनाया।
  - (ii) ए.आर. देसाई का प्रमुख सरोकार अवस्थांतर में ..... से रहा।
  - (iii) डी.एन. मजूमदार ने ..... की स्थापना की।
  - (iv) डी.पी. मुखर्जी की कृतियों के मुख्य विषय ....., ....., और ..... रहे हैं।
2. एक पंक्ति में उत्तर दें –
  - (i) आधुनिकता पर ए.के. सरन की मुख्य समालोचना  
.....
  - (ii) डी.एन. मजूमदार के कार्यक्षेत्र का विशिष्ट अभिलक्षण  
.....

## 2.5 बम्बई विचारधारा और लखनऊ विचारधारा की तुलना

बम्बई विचारधारा और लखनऊ विचारधारा दोनों ही भारत में समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान के व्यावसायीकरण एवं संस्थानिकरण की परस्पर जुड़ी प्रक्रिया में अग्रणी रही थीं। दोनों ही विचारधाराओं में विद्वानों को भारतीय के साथ-साथ विदेशी शिक्षकों द्वारा भी कड़ाई से प्रशिक्षित किया गया था। राष्ट्रवादी आंदोलन के समय दोनों ही विचारधाराओं के अग्रदूत लेखन कार्य में लगे थे। उनमें से कुछ के लेखन में राष्ट्रवादी उत्साह झलकता है। ये रचनाएँ भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं पर आधारित थीं और अपने लेखन में शास्त्रीय ग्रंथों का प्रयोग करती थीं।

बम्बई विचारधारा में जी. एस. घुर्ये और लखनऊ विचारधारा में राधाकमल मुखर्जी एवं धूर्जती प्रसाद मुखर्जी दोनों का उल्लेख किया जा सकता है। आधुनिक समय में इन्हें उपयुक्त रूप से नियोजित करने के लिए पुनरुत्थानवाद के संदर्भ में नहीं, अपितु पारंपरिक मूल्यों को फिर से जीवंत करने के लिए उनकी ओर से एक तत्काल एवं प्रचंड अनुनय भी देखा जा सकता है।

इसी प्रकार कुछ ऐसे सैद्धांतिक पहलुओं का भी पता लगाया जा सकता है जो उक्त दोनों ही विचारधाराओं के लिए एक समान थे। उदाहरण के लिए ए. आर. देसाई द्वारा अपनाया गया मार्क्सवादी

दृष्टिकोण धूर्जती प्रसाद मुखर्जी द्वारा अपनाए गए मार्क्सोलॉजिकल दृष्टिकोण के साथ ही गुंजायमान होता है। हालाँकि परवर्ती ने 'हठधर्मी मार्क्सवाद' को स्वीकृति नहीं दी।

दूसरी ओर, परंपरा एवं आधुनिकता का विषय उक्त दोनों विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। घुर्ये और सरन जैसे कुछ विद्वान उस आधुनिकता के पूरी तरह विरोधी थे और इसको वे औपनिवेशिक मानते थे, जबकि राधाकमल मुखर्जी एवं धूर्जती प्रसाद मुखर्जी जैसे अन्य विद्वानों ने इन दोनों के बीच एक सांस्कृतिक संश्लेषण के लिए तर्क दिया।

## 2.6 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं की प्रमुख विचारधाराओं पर चर्चा की है। सर्वप्रथम हमने संक्षेप में उस सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया जिसमें भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान दोनों का उदय हुआ और बाद में उन्हें संस्थागत रूप दे दिया गया। तत्पश्चात हमने भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं की प्रमुख विचारधाराओं पर चर्चा की जो कि बम्बई विचारधारा और लखनऊ विचारधारा के नाम से जानी जाती हैं।

इस इकाई में प्रत्येक 'विचारधारा' में प्रमुख विद्वानों के योगदान पर चर्चा की गई है। ऐसा करते हुए हमने प्रत्येक विद्वान की जीवनी का संक्षिप्त विवरण भी पढ़ा। आगे हमने प्रत्येक विचारधारा से संबद्ध विद्वानों की प्रमुख अवधारणाओं को जाना।

इकाई के अंत में दोनों विचारधाराओं की तुलना इस प्रकार की गई है कि समाजशास्त्र और मानवविज्ञान में उनके भिन्न-भिन्न योगदान को उजागर किया जा सके। कुछ ऐसे 'निःसंग पथिक' भी हमारी चर्चा का विषय रहे जो किसी भी विचारधारा से नहीं जुड़े थे। हमने उनके जीवन और महत्वपूर्ण योगदान पर विस्तृत चर्चा की।

## 2.7 संदर्भ

मुखर्जी, डी.पी., 1958, *डाइवर्सिटीज*, नई दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, 2013, *स्पेशल इश्यू ऑन द बॉम्बे स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी : द स्टालवाटर्स एंड देयर लेगेसीज*, मई-अगस्त, 62 (2): 193-366।

श्रीनिवास, एम.एन. एवं एम.एन. पाणिनी, 1973, 'द डवलपमेंट ऑफ सोशियोलॉजी एंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी इन इंडिया', *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*, 22 (2): 179-215।

## 2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

### बोध प्रश्न 1

- (i) इरावती कर्वे  
(ii) पैट्रिक गेडेस  
(iii) जॉन विसेंट फ़ैरेरा
- (i) बम्बई विचारधारा  
(ii) लखनऊ विचारधारा

### बोध प्रश्न 2

- (i) भारतविद्या  
(ii) ग्रामीण समाज  
(iii) एथ्नोग्राफिक एंड फोक-कल्चर सोसाइटी  
(iv) व्यक्तित्व, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा, मध्य वर्ग
- (i) उनके अनुसार आधुनिकता परंपरा के पूर्ण विनाश में परिणत होती है और एक समरूप यूरो-केंद्रिक दृष्टिकोण प्रदान करती है।  
(ii) उनके कार्यक्षेत्र की विशिष्ट पहचान मानव विज्ञान में बायोमेट्रिक्स प्रणाली थी अर्थात् नृजातीय विवरण के साथ मानवशास्त्रीय आँकड़ों के विश्लेषण में सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग।